

भारत में धार्मिक स्वतंत्रता व पंथनिरपेक्षता की अवधारणा

Dev Sharma Yajurvedi^{1*} Prof. (Dr.) N. K. Thapak²

¹ Research Scholar, Swami Vivekananda University, Sagar, Madhya Pradesh

² Associate Professor, Swami Vivekananda University, Sagar, Madhya Pradesh

सार – प्राचीन समय से ही भारत में सभी धर्मों का संरक्षण रहा है। यहां सभी धर्मावलम्बियों के साथ समान व्यवहार किया जाता रहा है। भारत में इसका तात्पर्य केवल यह है कि राज्य धर्म के मामले में पूर्णतः तटस्थ है। राज्य प्रत्येक धर्म को समान रूप से संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु किसी धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता है। राज्य के पंथनिरपेक्ष स्वरूप में कोई रहस्यवाद नहीं है। पंथनिरपेक्षता न ईश्वर-विरोधी है और न ईश्वर-समर्थक। यह भक्त, संशयवादी और नास्तिक सभी को समान मानती है। इसने ईश्वर के सम्बन्ध में राज्य को कोई स्थान नहीं दिया है और यह बात सुनिश्चित की गयी है कि धर्म के आधार पर किसी के विरुद्ध विभेद नहीं किया जायेगा। पंथनिरपेक्ष राज्य में राज्य का सम्बन्धों मानव में आपसी सम्बन्धों से रहता है। मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्ध इसके दायरे से बाहर है यह व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बन्धित मामला है।

-----X-----

परिचय

धर्म भी मानव जाति के बराबर ही पुराना है। वास्तव में धर्म का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक विश्वासों और भावनाओं से है, धर्म ने मानव जाति के हर पहलू को स्पर्श किया है। सामान्य जीवन में भावनाएँ क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं, आन्तरिक विश्वास सोच अथवा मनोवृत्ति को निर्धारित करते हैं, धर्म के मूल में मनुष्य की चेतना ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करती है। अपने तन, मन और धन को धर्म से जोड़कर उसे आत्मसंतुष्टि प्राप्त होती है। धर्म से जुड़ी मान्यताएँ देश, काल, समाज के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। इसलिए पृथक-पृथक समुदायों की अपनी-अपनी मान्यताएँ व स्वीकारोक्ति धर्म के रूप में प्रचलित रहती हैं।

आज धर्म एक विश्वास मात्र बनकर रह गया है, जबकि प्राचीन काल में धर्म जीवन जीने की पद्धति था। आज धर्म का क्षेत्र काफी सीमित हो गया है और यह संकुचन व्यक्तिगत स्थिति तक पहुँचकर सहिष्णुता से दूर हो गया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत भारत के संविधान निर्माताओं ने जिस संविधान की रचना की उसकी मुख्य विशेषता भारतीय गणराज्य में पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना करना

था, भारत चूंकि विभिन्न समुदाय वर्गों का देश है, इसीलिए यहां धर्म एक नहीं, अनेक हैं। सभी धर्मों को संविधान में एक साथ मान्यता देना संभव नहीं था। इसलिए संविधान निर्माताओं ने भारत को पंथनिरपेक्ष स्वरूप प्रदान किया। इसका अर्थ है कि राज्य का कोई धर्म नहीं है। सभी धर्मों को समान रूप से राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त है।

भारतीय संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा संविधान की मूल प्रस्तावना में पंथनिरपेक्ष, शब्द जोड़कर भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक “गणराज्य” घोषित किया गया है। पंथनिरपेक्ष राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

- (1) राज्य का अपना कोई धर्म नहीं
- (2) विधि के समक्ष समता अनु. 14
- (3) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर विभेद
- (4) लोक सेवाओं में अवसर की समानता अनु. 16
- (5) अस्पृश्यता का अन्त

- (6) अनु. 21
- (7) धार्मिक स्वतन्त्रता
- (8) धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता
- (9) किसी धर्मविशेष की उन्नति के लिए करो के देने के बारे में स्वतंत्रता
- (10) कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतन्त्रता
- (11) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:-

1. पाश्चात्य परम्परा
2. भारतीय परम्परा

(1) पाश्चात्य परम्परा:-

ईसा के लगभग एक शताब्दी पूर्व से लेकर लगभग तीन शताब्दी बाद तक के समय में, यूरोप में दो विचारधाराओं का जन्म हुआ। पहली, स्टोइक विचारधारा, जिसके प्रवर्तक सिसरो और सिनेका थे। जिसने रोमन कानून को प्रभावित किया एवं प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। दूसरी विचारधारा धार्मिक उपदेशों की थी जिसके अनुसार कानून और सरकार का अस्तित्व भागवत् योजना के अनुसार पूर्वनिर्दिष्ट माना जाता था। इसके प्रवर्तक चर्च फादर्स थे। यूनानी विचारकों की दृष्टि में जहाँ कानून का आधार धर्म अथवा नैतिकता थी, रोमनों ने कानून को धर्म और नैतिकता से पृथक् कर दिया और यह मान्यता स्थापित हुई कि कानून का पालन उसकी नैतिकता अथवा धार्मिकता के आधार पर नहीं होना है बल्कि इसलिए होना है क्योंकि वह सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता की इच्छा है और राजनीतिक सत्ताधारी कोई देवात्मा नहीं है, वरन् राज्यतंत्र के प्रतिनिधि है।

11वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते रोम का वैचारिक चिन्तन 2 स्तरों पर बँट गया। 1. चर्च समर्थक, 2. राज्य समर्थक। मध्य काल का शेष इतिहास राज्य और चर्च के बीच संघर्षों का इतिहास है। यद्यपि इन संघर्षों का आधारमूल रूप से राज्य और चर्च के बीच शक्ति का विभाजन, एक की दूसरे पर श्रेष्ठता थी, तथापि अध्ययन की सुविधा हेतु हम इसे तीन चरणों में बाँट सकते हैं।

1. प्रथम चरण (1050 से 1122 ईसवी तक)
2. द्वितीय चरण (1269 से 1303 ईसवी तक)
3. तृतीय चरण (1323 से 1377 ईसवी तक)

प्रथम चरण:-

प्रथम चरण में रोमन चर्च का सबसे बड़ा समर्थक ग्रेगरी सप्तम था। राजा-सत्ता और धर्म-सत्ता के बीच हुए विवाद का नेतृत्व ग्रेगरी ने ही किया और कुछ समय के लिए चर्च को अजेय बना दिया। विवाद का प्रारम्भ चर्चों में विशिष्टों की नियुक्ति को लेकर शुरू हुआ। जर्मन राजा हेनरी चतुर्थ, चर्चों के विशिष्टों की नियुक्ति राजा का अधिकार मानता था। जबकि पोप ग्रेगरी सप्तम की यह मान्यता थी कि यह सामान्य व्यक्ति चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि धर्मसत्ता सबसे बड़ी है। राज पक्ष का दावा था कि इस प्रकार की नियुक्ति राजा सदैव से करता आया है, चर्च की सम्पत्ति राज्य प्रदत्त है। अतः इस नियुक्ति का वही अधिकारी है।

धर्मसत्ता के समर्थकों ने राजसत्ता पर सीधा आक्रमण किया और तर्क दिया कि धर्मसत्ता प्रत्येक ईसाई के अनुशासन की अधिकारिणी है। इसलिए यदि राजा धर्म विरुद्ध कार्य करेगा, तो उसे धर्म से बहिष्कृत किया जा सकता है और धर्म बहिष्कृत व्यक्ति राजगद्दी ग्रहण नहीं कर सकता।

द्वितीय चरण:-

1106 में हेनरी चतुर्थ की मृत्यु के बाद चर्च और राजा के बीच सम्बंध अनिश्चित रहे। 1112 में जर्मनी के राजा हेनरी पंचम और पोप पैस्कल के बीच बर्म्स समझौता हो जाने से राजा और चर्च का विवाद कुछ समय के लिए समाप्त हो गया। 1250 में जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद जर्मनी में, चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा, पर फ्रांस में फिलिप द फेयर नाम का दूसरा प्रतिद्वन्द्वी तैयार हो गया। विवाद के इस चरण में राजपक्ष और राजा फिलिप के समर्थक जॉन आफ पेरिस, दाँते, अर्नेटियस, एकर्सियस, बाल्ड आदि थे। दूसरी ओर धर्मपक्ष की ओर से पोप वोनीफेस अष्टम और उसके समर्थक थे।

इस बार विवाद का प्रारम्भ चर्च की सम्पत्ति पर राज्य द्वारा चलाये गए नए कर के प्रश्न को लेकर आरम्भ हुआ। फिलिप ने फ्रांस के चर्च की सम्पत्ति पर रक्षा हेतु सेना खड़ी करने के उद्देश्य से कर लगा दिया। रोमन पोप वोनीफेस अष्टम ने राजा के इस कार्य का प्रतिरोध किया और राजा को आदेश दिया कि

यह ऐसा न करें। उसने अपने पत्र में राजा को लिखा कि यदि कोई पादरी मेरी स्वीकृति के बिना किसी सामान्य व्यक्ति को कर अदा करेगा तो उसका धर्म बहिष्कार कर दिया जाएगा। जो व्यक्ति उन्हें लेगा, पादरी व चर्च की सम्पत्ति को छीनेगा या छीनने का प्रयत्न करेगा, तो उसका धर्म बहिष्कार कर दिया जाएगा।

तृतीय चरण:-

यह विवाद बवेरिया के राजा लुई और जान बाइसर्वे के बीच जन्मा। जिसमें राजपक्ष के पक्षधर, पेडुआ के मार्सिलियो और विलियम के ओकम थे जबकि पोप के पक्षधर आगस्टस ट्रम्फस तथा अलवोरस प्लेजियस थे।

जब फ्रांस का राजा इंग्लैण्ड से युद्ध में फँसा हुआ था, तो पोप ने चर्च की प्रतिष्ठा को स्थापित करने का प्रयत्न किया। जब जर्मनी के गृहयुद्ध में बवेरिया का राजा लुई, विजय प्राप्त करके जर्मनी का राजा बना, तो पोप जान बाइसर्वे ने राजा लुई को अपने राजाधिकार के लिए, पोप का समर्थन प्राप्त करने के लिये लिखा। राजा ने इसे अपना अपमान समझा। पोप ने धर्मबहिष्कार की धमकी दी, तो राजा ने पोप पर ही चढ़ाई कर दी और इटली पर अधिकार कर लिया। इस विवाद में पेडुआ के मार्सिलियो ने जो तर्क रखे उन्हीं से पंथनिरपेक्ष राज्य की पश्चिमी अवधारणा का जन्म हुआ।

14वीं शताब्दी में मार्सिलियो आफ पेडुआ के पाश्चात्य परम्परा के प्रति विचार:-

13वीं शताब्दी के अंत तक राज्य पर धर्म का वर्चस्व बना रहा। किन्तु 14वीं और 15वीं शताब्दी ने राज्य में चर्च के विलीनीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। राजसत्ता को धार्मिक सत्ता से स्वतंत्र कराने का सर्वाधिक श्रेय मार्सिलियो आफ पेडुआ को जाता है। जो “14वीं शताब्दी का सर्वाधिक मौलिक चिन्तन था।” यह चर्च को सामाजिक अंगों की तरह एक अंग मानते हैं और पुरोहित तथा पादरी को वर्ग। किन्तु वह तर्क देते हैं कि सब संस्थाओं के समान चर्च भी राज्य की एक संस्था है। चर्च की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति है। चर्च की सरकार राज्य की सरकार का ही एक अंग है, तथा चर्च समुदाय की प्रभुसत्ता, नागरिकों की असेम्बली के ही समान है।

16वीं शताब्दी का प्रोटेस्टेण्ड सुधार आन्दोलन:-

“यूरोप के इतिहास में किसी भी काल की व्याख्या या मूल्यांकन इतना कठिन नहीं है, जितना कि पेडुआ के मार्सिलियो तथा मार्टिन लूथर के बीच का 200 वर्ष का समय। “15वीं शताब्दी के अंतिम और 16वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो-तीन दशकों में पश्चिमी सभ्यता में अविस्मरणीय परिवर्तन हुआ।” जहाँ 15वीं शताब्दी के आदि के अंत तक यूरोप में चर्च के विभाजन के फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक संघर्ष होते रहे, वहीं दूसरी ओर छापे खाने के उदय, पुर्नजागरण के प्रारम्भ, तुर्कों द्वारा कुस्तुतुनिया पर विजय आदि की पृष्ठभूमि में राजनैतिक चिन्तन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तनों की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। राज्य और चर्च के बीच का सत्ता संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ था। किन्तु सामन्तवादी समाज का पतन शीघ्रता से हो रहा था। और उसके स्थान पर निरंकुश राज्य की स्थापना की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी।

विभिन्न पश्चिमी देशों में पंथनिरपेक्ष राज्यों की स्थापना:-

16वीं और 17वीं शताब्दी में धर्म तथा राज्य के पृथक्करण पर बल देने और राष्ट्रीय राज्य के उदय के फलस्वरूप निरंकुश राजतंत्रों का विकास हुआ। धार्मिक सत्ता बलहीन होती गयी, किन्तु तर्कवाद और बुद्धिवाद के उदय के साथ प्रजातंत्र की अवधारणा भी विकसित होने लगी।

17वीं शताब्दी में विशेष रूप से राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर कुठाराघात हुआ, और यह मान्यता विकसित हुयी कि राजा की शक्ति का आधार जनता है। उसे सत्ता जनता से प्राप्त हुयी। अतः अब सत्ता के संघर्ष में निरंकुश राजतंत्र और प्रजातंत्रवादियों के दो पक्ष हो गये। औद्योगीकरण के विकास के साथ विभिन्न राजतंत्रों में विभिन्न धर्मावलम्बियों की संख्या भी बढ़ी। उपनिवेशवाद का विकास होने लगा तो निरंकुश शक्ति के विरुद्ध जनतंत्रवादियों के संघर्ष में धार्मिक भेदभाव का समाप्त हो जाना स्वाभाविक था।

भारतीय परम्परा:-

भारत में धर्म की स्वतन्त्रता और पंथनिरपेक्षता के विचार के विकास को पश्चिमी चिन्तन के परिपेक्ष्य में पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। अधिकांश पाश्चात्य और भारतीय

अध्येयता समस्त भारतीय चिन्तन की मीमांसा मात्र पश्चिमी दृष्टिकोण से करते हैं, जो कि पूर्णतया सत्य नहीं है। अधिकांश ऐसे अध्येयताओं की मान्यता है कि प्राचीन भारतीय धर्मव्यवस्था कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, और जीवन की सांसारिक समस्याओं से उदासीन व्यवस्था थी। जिसका एक मात्र उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति थी और भारतीय जीवन धार्मिक परम्पराओं में इतना लिप्त था कि भारतीय, विदेशियों के आक्रमणों का सक्रिय विरोध भी नहीं कर सके। मुसलमानों और अंग्रेजों की विजय का परिणाम भी उनकी धर्मान्धता थी। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि भारतीय ब्राह्मणवादी कर्मकाण्डों धर्मव्यवस्था का इतना प्रभाव था कि भारतीय ब्राह्मण नीति का मनुष्य के सामाजिक जीवन पर धर्म का जितना प्रभाव है, उसमें पंथनिरपेक्षता का विचार ही अनुपयुक्त और अव्यवहारिक दिखायी देता है।

प्राचीन भारत में धर्म की स्थिति:-

पाश्चात्य विचारकों की यह अवधारणा कि धर्म और सामाजिक चिन्तन से दूर केवल आत्मा सम्बन्धी समस्याओं को मनन, चिन्तन और मोक्ष से सम्बन्धित है गलत है। वास्तव में प्राचीन भारत में धर्म को संकुचित क्षेत्र में, केवल मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया। प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित धर्म अपने लोक कल्याणकारी स्वरूप के लिये जाना गया। उपनिषदों में धर्म का तात्पर्य उन नियमों और कर्तव्यों से है, जिसमें हम हैं। महर्षि कणादि के अनुसार धर्म वह है, जिसमें धर्म की नैतिक उन्नति और परलौकिक मोक्ष की प्राप्ति हो। धर्म वह है जिसमें व्यक्ति का अभ्युदय हो, जो अधो गति से लोगों को बचाये। इस तरह प्राचीन भारत में धर्म और व्यक्ति के बीच संकुचित दृष्टिकोण नहीं था। इसका मुख्य उद्देश्य समाज में मानव की प्रतिभा का सर्वांगीण और समविकास रहा। महाभारत के अनुसार जिनमें धर्म रहता है उसी को राजा कहते हैं। किन्तु राजा को मनमाने कार्य करने की छूट नहीं थी। उसे वे ही कार्य करने चाहिये जिनसे प्रजा का हित हो। किन्तु प्रजारंजन ही राजा का सनातन धर्म है।

भारत में अंग्रेजी शासन के समय धर्म का उपयोग:-

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ अंग्रेज का भारत में पदार्पण हुआ और उन्होंने पहले विजयी-देशी रियासतों को अपने में मिलाने और अपनी स्थिति मजबूत करने की नीति अपनाई। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति को 2 वर्गों में बाँटा जा सकता है। कम्पनी के अधीन भारत और ताज के अधीन भारत। लेकिन यह दोनों ही केन्द्र बिन्दु रहे, धर्म का उपयोग अथवा “विभाजित करो और शासन करो” की नीति। अंग्रेज जानते थे कि हिन्दू और मुसलमान दो बड़ी शक्तियाँ हैं, यदि यह मिल गयी तो ब्रिटिश

शासन का भारत में अंत हो जायेगा। अतः ब्रिटिश काल में इन दोनों धर्मावलम्बियों को विभाजित रखने के लिए दोहरी नीति अपनाई गयी। (1) दोनों के बीच वैचारिक मतभेदों को उत्पन्न करना (2) ऐसी प्रशासकीय नीति का अनुसरण ताकि दोनों वर्ग व्यावहारिक रूप से एक दूसरे के विरोधी बन जायें।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में पंथ निरपेक्षता का विचार:-

यद्यपि अंग्रेजों ने भारतीयों की धार्मिक भावनाओं का शोषण करके अपनी साम्राज्यवादी नीति को पुष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसका परिणाम भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा का उदय हुआ। धर्म सुधार आन्दोलनों ने, राष्ट्रवादी आन्दोलन की आधारशिला भी रखी। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सभी धर्मावलम्बियों का एकजुट रहना इसका सबूत है। जब कांग्रेस की स्थापना एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्रवादी आन्दोलन के रूप में हुई, तब अंग्रेजों ने उसको निष्प्रभावी बनाने हेतु मुसलमानों को कांग्रेस विरोधी संगठन बनाने के लिए उकसाया, और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में स्पष्टतः दो वर्ग बन गए (1) साम्राज्यवाद विरोधी पंथनिरपेक्ष ताकतों का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस (2) अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त मुस्लिम लीग। किन्तु इस द्विविभाजन ने पंथनिरपेक्ष और गैर सम्प्रदायवादी ताकतों को और अधिक मजबूत ही किया। कांग्रेस ने गैर साम्प्रदायिक नीति अपनाई, स्वतंत्रता संग्राम के बीच कांग्रेस नेताओं ने, जिन पर पश्चिमी उदारवाद और ब्रिटिश परम्पराओं का पूर्ण प्रभाव था, जीवन के पंथनिरपेक्षवादी दृष्टिकोण को प्रचारित और प्रसारित किया, और इस बात पर बल दिया कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की निजी आत्मिक भावनाओं की सीमा तक ही सम्बन्धित रहना चाहिए।

पंथनिरपेक्षता पर संविधान सभा में विचार:-

विभाजन के बाद विभिन्न धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त कुल जनसंख्या का लगभग 1/10 भाग उन मुस्लिम अल्पसंख्यकों का था, जो नवस्थापित इस्लामी राज्य पाकिस्तान नहीं गए। अतः इन परिस्थितियों में स्वतंत्र भारत के लिए एक पंथनिरपेक्ष संविधान, जिसमें सभी धर्मों के लोग समान स्वतंत्रताएँ, समान नागरिक अधिकार रख सकें, और जो विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रख सके, अनिवार्य हो गया। अतः संविधान सभा में जब संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं पर विस्तृत बहस और विचार किया गया। तो नेहरू रिपोर्ट और 1931 के कांग्रेस के कराची अधिवेशन की, सब धर्मों को स्वतंत्रता और समानता का

अधिकार देने की, नीति पर तो कोई मतभेद नहीं हुआ, किन्तु पंथनिरपेक्ष शब्द को संविधान में शामिल नहीं किया गया। संविधान सभा की बहसों के बीच यह स्पष्ट किया गया जो कि व्यवस्था की जा रही है, वह राज्य द्वारा पंथनिरपेक्षता की नीति का ही प्रतिरूप है किन्तु “पंथनिरपेक्ष” शब्द चूँकि विशेष अर्थों में प्रयुक्त होता है, अतः शामिल करना ठीक नहीं है। जब प्रो. के.टी. शाह ने “पंथनिरपेक्ष” और समाजवादी शब्द सम्मिलित किए जाने की माँग की तो डा. अम्बेडकर ने इसका विरोध इस आधार पर किया कि भावी राजनीतिक दलों को किसी विशिष्ट व्यवस्था से प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

पंथनिरपेक्षता के स्तर पर सांविधानिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि पंथनिरपेक्षता से समाज एवं राज्य में वैचारिक समन्वय स्थापित होता है, तथा परम्परागत विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर पंथनिरपेक्षता एक तार्किक ज्ञान को जन्म देती है। यही तार्किकता वैचारिक समन्वय का स्रोत होती है। भारतीय संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता तथा पंथनिरपेक्षता इसी भावना के साथ प्रवाहित है। भारतीय संविधान में पंथनिरपेक्षता से संदर्भिता विभेदीकरण की एक प्रक्रिया निहित है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैधानिक तथा नैतिक पक्ष परस्पर अधिक से अधिक सावधान होते जाते हैं, क्योंकि पंथनिरपेक्षता अपनी विशेषता के अनुरूप परम्परागत विश्वासों, तर्कहीन विचारों और धारणाओं को यथासंभव नष्ट करने की शक्ति-सामर्थ्य रखती है। इस प्रकार पंथनिरपेक्षता, जातिवाद, द्वेषवाद तथा अन्धता के विरुद्ध है। पंथनिरपेक्षता की यह अवधारणा सभी धर्मों के प्रति सम्मानजनक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देती है।

संदर्भ

डॉ. के.एन. वर्मा: राजदर्शन भाग-1, पृ.सं. 407, मेरठ, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, 1969-70

आटो ग्रीक: “पोलिटिकल थ्योरीज ऑफ़ द मिडिल एज” मैटलैण्ड द्वारा सम्पादित, पृ. 191-192, वेकन हिल, वेकन प्रेस, 1959

सी.सी. मैक्सी: “पोलीटिकल फिलासफीज”, पृ.सं. 125, द मैकीमलियन कम्पनी, 1950

यतोऽभ्युदनिः श्रेयससिद्धिः सः धर्मः “कणाददर्शन (हिन्दू राज्य शास्त्र, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी)

‘यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते’ महाभारत शांतिपूर्व 90/14

महाभारत, शान्ति पर्व, 56/45-46

लोक रज्जनमेवात्र राजां धर्मः सनातनः। शान्तिपर्व, 57/11

एम.सी. सीतलवाड़: बाम्बाल एवं चैधरी द्वारा सम्पादित: पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 45-46

एम.सी. सीतलवाड़: इन बाम्बाल एवं चैधरी (सम्पादक), पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 46

Corresponding Author

Dev Sharma Yajurvedi*

Research Scholar, Swami Vivekananda University,
Sagar, Madhya Pradesh